प्रथम संस्करण
1000 प्रतियाँ

दयानन्दाब्द–163

सम्वत् 2044 वि०
सन् 1987 ई०

मुद्रित : सरस्वती प्रिंटर्स, आर्यनगर, ज्वालापुर


॥ ओ३म् ॥

# वृक्षों में जीव और हिंसा

## [ एक विवेचन ]




—: लेखक :—

**आचार्य सत्यव्रत राजेश**

एम॰ ए॰, पी॰ एच॰ डी॰
वेदोपाध्याय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार



—: प्रकाशक :—

**आर्यसमाज, सैजपुर बोधा**

अहमदाबाद

मूल्य : रु॰ 1.50

# दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक की कहानी भी विचित्र है । मैं एक बार आर्य समाज नई मण्डी मुजफ्फर नगर के उत्सव पर गया था । प्रात: कालीन कार्यक्रम के पश्चात् मैं तथा पं० हरपाल जी शास्त्री बैठे हुए थे । एक ग्राम्य सज्जन ने प्रश्न किया कि हमारे गांव में आधे हिन्दू रहते हैं तथा आधे मुसलमान । वे जब बकरा आदि मारते हैं और हम मना करते हैं तो वे कहते हैं कि आप भी तो वृक्षादि में जीव मानते हो अत: आपने गाजर मूली आदि उखाड़कर खाली और हमने बकरा आदि मार कर खा लिया तो दोनों में क्या अन्तर रहा ? मैंने उस समय उसका समाधान किया और वह सन्तुष्ट होकर चला गया । किन्तु यह प्रश्न अन्य भी अनेक लोगों के मन में आता है तथा वे भी समाधान चाहते हैं उन्हीं को ध्यान में रखकर यह पुस्तक लिखी गई है ।

इस पुस्तक को लिखे कई वर्ष हो चुके हैं किन्तु यह छपाने की राह देखती रही । सौभाग्य से इसकी चर्चा सेठ गुरुदास मल जी से हुई, उन्होंने इसके छपाने का प्रबन्ध कर दिया । मान्य सेठजी आर्य समाज के प्राण हैं । उनके प्रसंसनीय प्रयास तथा लगन से आप उस आर्य समाज से यज्ञ कुण्ड, सामग्री, समिधा आदि के साथ ही हिन्दो, गुजराती तथा सिन्धी का साहित्य प्राप्त कर सकते हैं, किसी न किसी विद्वान को सदैव सुन सकते हैं, प्रतिदिन प्रातः दैनिक सत्संग के अतिरिक्त रविवार तथा बुधवार को सायं भी सत्संग का लाभ उठा सकते हैं तथा आर्य समाज के साहित्य को प्राप्त कर सकते हैं । वे प्रतिमास सैंकड़ों व्यक्तियों को प्रान्त

तथा प्रान्त से बाहर मुफ्त साहित्य भेजते हैं। प्रात से सायं काल तक स्वस्थ तथा अस्वस्थ अवस्था में आर्य समाज में सेवक बनकर उसी के कार्य में लगे रहते हैं वे व्यक्ति नहीं संस्था हैं। हम प्रभु से उनके दीर्घ जीवन तथा उत्तम स्वास्थ्य की कामना करते हैं।

यह पुस्तक किसी भी भूले भाई को मार्ग दिखाकर उसे मांसाहार के पाप से बचा सके तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

अन्त में परमपिता परमात्मा का हार्दिक धन्यवाद करता हूं जिनकी शुभ कृपा का यह फल है। भद्रं भवन्तु नः पुरः।

विदुषां वशंवद :—

**डा० सत्यव्रत राजेश**
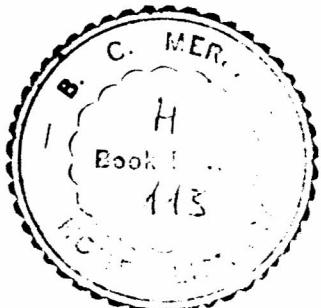
# वृक्षों में जीव विषयक आर्य समाज की मान्यता

वृक्षों में जीव विषयक मान्यता आर्य समाज के प्रारम्भिक विद्वानों में भी विवाद का विषय रही है। कुछ विद्वान् वृक्षों में जीव की सत्ता मानते थे जिनमें पं० गणपति जी शर्मा आदि विद्वान् मुख्य थे तथा कुछ विद्वान् वृक्षों में जीव की सत्ता स्वीकार नहीं करते थे जिनमें स्वामी दर्शनानन्द जी सरस्वती का नाम मुख्य रूप में लिया जा सकता है। आजकल भी इस विषय में आर्य विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ वृक्षों में जीव मानते हैं तथा कुछ केवल प्राणमात्र मानते हैं जीव नहीं। वृक्षों में जीव मानने वालों का प्रबल तर्क यह है कि यदि वृक्ष वनस्पतियों में जीव माना जाए तो एक व्यक्ति गाजर-मूली उखाड़ कर खाता है तथा दूसरा व्यक्ति गाय, बकरे आदि को मार कर खाता है। तब दोनों में अन्तर क्या रहा? शीर्षक में हमारे वृक्ष शब्द का तात्पर्य वृक्ष, औषधि, वनस्पति, लता, वल्लरी आदि सभी से है, केवल वृक्ष से ही नहीं।

यह प्रश्न बड़ी गरिमा रखता है तथा समाधान चाहता है। इस गहन गुत्थी को सुलझाए बिना हम भी कन्दादि उखाड़ कर खाने पर उसी कोटि में आ जाते हैं जिस कोटि में वधिक या व्याध आते हैं। इस गुत्थी के समाधान की ओर बढ़ने से पहले हम यह देखें कि वृक्षों में जीव की सत्ता के विषय में वेद, उपनिषद्, स्मृति, दर्शन आदि ग्रन्थ तथा आचार्य शंकर एवं महर्षि दयानन्द आदि की क्या मान्यता है।

## वृक्षों में जीव विषय में वेद की मान्यता-

अथर्ववेद का एक मन्त्र है जिसमें कहा है कि—

इद जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति ।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरूधः ।।
। 1. 32 1 ।।

हे मनुष्यों ! तुम इस बात को जानते हो कि वह पूज्य ब्रह्मज्ञानी परब्रह्म का उपदेश करेगा, जो ब्रह्म न केवल पृथिवी या द्युलोक में ही है (अपितु सर्वत्र है तथा) जिससे ये लता (आदि) प्राण लेते हैं ।

इस मन्त्र में लताओं को प्राण लेने वाली बतलाया है । प्राण न क्रिया का आधार आत्मा ही है । प्रायः अन्दर से बढ़ने वाली वस्तुएं आत्मा की ही प्रतीति कराती हैं । वृक्ष वनस्पति लता, ओषधि आदि सब अन्दर से बढ़ते हैं, अतः इनमें आत्मा को मानना ही पड़ेगा । सायणाचार्य ने भी 'प्राणन्ति' का अर्थ 'जीवन्ति' ही किया है । एक अन्य मन्त्र में—

जीवला नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।।
।। अथर्व० 8. 7. 6 ।।

ओषधी को जीवनदात्री, हानि न पहुंचाने वाली तथा जीवित रहने वाली कहा है । 'जीवन्तीम्' का अर्थ क्षेमकरण दासत्रिवेदी ने भा 'जीव रखने वाली' ही किया है ।

उपर्युक्त मन्त्रों में वीरुध तथा ओषधि को प्राण लेने वाली तथा जीवित रहने वाली कहा है । प्राण तथा जीवन का सम्बन्ध आत्मा से ही है । जड़ प्रकृति में तो जीवन तथा प्राणन क्रिया का प्रश्न ही नहीं उठता । भूमि जल आदि न तो श्वास लेते हैं और न



प्रश्वास छोड़ते हैं । किन्तु वृक्षादि श्वास के रूप में कार्बन लेते तथा प्रश्वास के रुप में ओषजन छोड़ते हैं । अतः ओषधी आदि में जीव की सत्ता वेद को मान्य है ।

## वृक्षादि में जीव विषयक उपनिषद् की मान्यता

उपनिषद् भी वेद के इस सिद्धान्त की पुष्टि करती हैं । कठोपनिषद् में "मरने के पश्चात् कोई तत्व शेष रहता है या नहीं ?" नचिकेता के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यमाचार्य कहते हैं - हे नचिकेता ! मुझे प्रसन्नता है कि मैं तुझे इस शाश्वत गुप्त ज्ञान को बतलाऊंगा कि मर कर आत्मा का क्या होता है । अपने ज्ञान तथा कर्म के अनुसार कुछ आत्मा तो शरीर धारण के लिए (मनुष्यादि) योनि को प्राप्त होते हैं तथा कुछ जोव (मानवादि से-भिन्न) स्थावर अर्थात् वृक्षादि की योनि को प्राप्त कर लेते हैं ।[1]

छान्दोग्योपनिषद् में भी वृक्षादि में आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है । वहाँ आरुणि उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु को आत्मा के विषय में बतलाते हुए कहते हैं—हे प्रिय ! जो व्यक्ति इस महान् वृक्ष की जड़ में चोट करे तो वह जीता हुआ रस गिराए, जो मध्य भाग में चोट करे वह जीवित

1. हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ।।
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनु संयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।।
क० उ० 2. 5. 6-7 ।

रहता हुआ रिसता रहे, तथा जो अग्रभाग म चोट करे तो भी वह जीता हुआ स्रवित होता रहे, पर सूखे वा मरे नहीं । क्योंकि वह वृक्ष जीवन तथा आत्मा से परिपूर्ण है इसमें जीवन-प्राण भी है और आत्मा भी। इसी कारण यह पानी पीता हुआ हर्ष से रहता है। इस बृक्ष की एक शाखा को जब जीव छोड़ देता है। तो वह सूख जाती है दूसरी को छोड़ देता है तो वह सूख जाती है, तीसरी को छोड़ देता है तो वह सूख जाती है और यदि जीव समस्त वृक्ष को छोड़ देता है तो सारा वृक्ष सूख जाता है।[1] इससे अधिक स्पष्ट वृक्षादि में आत्मा की सत्ता का उल्लेख और क्या होगा ?

अन्यत्र भी छान्दोग्य में ओषधि वनस्पति आदि में जीव की सत्ता का उल्लेख करते हुए कहा है कि—वे यहाँ धान, जौ, औषधि, वनस्पति, तिल तथा उडद के रूप में उत्पन्न होते हैं।[2]

## मनु की सम्मति

मनुस्मृति भी वृक्षों में आत्मा की सत्ता का प्रतिपादन करती हैं। कर्मानुसार जीवों को किस किस प्रकार का योनियाँ प्राप्त

———————

1. अस्य सोभ्य महतो वृक्षस्य यो मूले ऽभ्याहन्यात् जीवन् प्रस्रवेद्योमध्ये हन्याज्जीवन् स्रवेद्योऽग्रेहन्याज्जीवन् स्रवेत्। स एष जीवेनात्मनानु प्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति। अस्य यदेकां शाखां जीवों जहात्यथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति, सर्वं जहाति सर्वं शुष्यति ॥ छा. उ. 6.11.1-21

2. त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलभाषा इति जायन्ते ॥ वही 5/ 0/6/



होती हैं, उनका उल्लेख करते हुए वे कहते हैं— प्राणी कर्मानुसार किन किन योनियों में जन्म लेते हैं, वह मैं बताऊंगा। वहाँ जीव की उद्भिज योनि में उन्होंने बीज तथा गाँठ से उगने वाले सब स्थावर, पकने पर समाप्त हो जाने वाली ओषधियाँ, बिन फूल के फल लगने वाली वनस्पति, फूल फल लगकर झड़ जाने पर भी स्थिर रहने वाले वृक्ष, गुच्छे गुल्मयुक्त लता वल्लरी को गिनाया है।[3] उनके अनुसार– शरीर से दोष युक्त कर्म करने से जीव स्थावर योनि को पाता है।[4]

## शंकराचार्य का एतद्विषयक मत

दार्शनिक शिरोमणि, अपनी प्रतिभा से बौद्धों को परास्त करने वाले, वैदिकमत संस्थापक तथा परिस्थितिवश जीव-ब्रह्म की एकता के प्रतिपादक शंकराचार्य ने भी उपनिषद् भाष्य में लिखा है कि—वृक्षों के रस स्रवण आदि चिन्हों से उनका जीववाला होना सिद्ध है,।[5] इससे स्पष्ट है कि शंकराचार्य भी वृक्षादि में जीव की सत्ता स्वीकार करते हैं।

———————

3. येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् । तत्तथा वोऽभिधास्यामिक्रमयोगं च जन्मनि ॥ उद्भिजाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः । ओषधयः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः । पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयाः स्मृताः ॥ गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः । बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्लय एवं च ॥ मनु॰ 1.42,46-48

4. शरीर जैः कर्म दोषर्याति यातिस्थावरतां नरः ॥ मनु॰12.9

# वृक्षादि में जीव विषयक महर्षि दयानन्द का मत

वेदों के परमविद्वान, योगी, अपनी प्रतिभा से वेद विरुद्धमत को परास्त करने वाले, देव दयानन्द, जो एक मात्र वेदों को ही स्वतः प्रमाण मानते हैं, वे भी वृक्षादि में जीव को मानते हैं।सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में उन्होंने प्रश्न उठाया है—"ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंहादि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि कृमि कीट पंतग आदि जन्म दिये हैं" । उत्तर में इसका कारण पूर्व जन्म के कर्म बतलाए हैं जिससे स्पष्ट है कि वे किन्हीं कर्मों के कारण जीव का वृक्ष योनि में जाना मानते हैं नवम समुल्लास में मनु के एक श्लोक का अर्थ करते हुए उन कर्मों का, जिनसे वृक्षादि की योनि मिलती है, उल्लेख करते हुए लिखते हैं— जो नर शरीर से चोरी परस्त्री गमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है, उसको वृक्षादि स्थावर का जन्म मिलता है ।

## गणपति शर्मा का मत

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती से इस विषय में शास्त्रार्थ करते हुए एक स्थान पर वे वेदान्त दर्शन[6] को उद्यत करते हुए कहते हैं—आगे अन्य जीवों से अधिष्ठित ब्रीहियवादि में अनुशयी अनुशय

———————

5. वृक्षस्य रसस्रवणादि लिङ्गज्जीववत्वम् ।। द्र० छान्दोग्य उ० 6.11.1 का शांकरभाष्यम्

6, अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ।। वेदान्त द० 3.1.24



कर्म करने वाले जीवों का सम्बन्ध बतलाया है। इस सूत्र में 'अन्याधिष्ठितेषु' पद स्पष्ट कर रहा है कि ब्रीहियवादि अन्य जीवों से अधिष्ठित होते हैं । अर्थात् अन्य जीव ब्रीहि यव आदि के उसी प्रकार अधिष्ठाता- अभिमानी जीव हैं, जैसे कि हम अपने शरीर के अधिष्ठाता हैं ।

## एक उलझा प्रश्न

वेद से लेकर महर्षि दयानन्द तक के ग्रन्थों से यह सिद्ध हो जाने पर कि 'वृक्षादि में जीव है', वही पूर्वोक्त प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वृक्षादि में जीव है तब इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख तथा दुःख आत्मा के लक्षण होने से उनके उखाड़ने काटने आदि से उनको दुःख होने से हिंसा के दोष से भी हम बच न सकेंगे। यदि जीव वाला होने से वृक्षादि के काटने आदि में दोष नहीं है तो गाय, भैंस, भेड़, बकरी, मुर्गा, मछली, टिड्डी आदि के मारने में भी पाप न लगना चाहिए । क्योंकि जब जीव युक्त पशु पक्षी आदि के मारने आदि में पाप माना जाता है तब जीव युक्त गाजर मूली आदि के उखाडने काटने आदि में हिंसा का दोष क्यों नहीं ? आप स्वयं गाजर मूली आदि खाते हैं तथा हमारे पशु पक्षी आदि मारने में पाप बतलाते हो, यह दुहरी नीति कैसी ? यदि यह पापकर्म है तो दोनों ही पापी हैं और यदि आपको गाजर आदि के उखाडने काटने में पाप नहीं लगता तो हमें भी बकरी आदि के मारने में पाप क्यों माना जाए ?

←———

1. इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख-दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ।। न्याय द० 1.1.10

# पाप-पुण्य का सम्बन्ध

यह उभरा प्रश्न हमें गम्भीरतापूर्वक सोचने पर विवश करता है। इसका समाधान किये बिना हम बकरी मारने वालों की भांति हिंसा-दोष से नहीं बच सकते। सर्व प्रथम हमें विचारना होगा कि पाप पुण्य का सम्बन्ध है किससे? क्योंकि आत्मा तो अमर है, उसके मरने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। पुनः आत्मा के न मरने पर भी पाप लगने अथवा न लगने का कारण क्या है? इस विषय में न्याय दर्शन में विचार किया गया है। वहाँ आत्मा को शरीरादि से पृथक बताते हुए इस विषय में यह तर्क दिया है कि—'मृत शरीर के जलाने पर पाप नहीं लगता तथा जीवित शरीर के जलाने पर पाप लगता है।' यह इस बात का प्रमाण है कि आत्मा शरीर से पृथक् है। उसे ही सुख दुःख की अनुभूति होती है। मरने पर वह शरीर में नहीं रहा अतः मृत शरीर को जलाने में पाप नहीं लगता [1]। आगे प्रतिपक्षी की ओर से तर्क देते हैं कि जब आप आत्मा को नित्य मानते हो और यह मान्यता रखत हो कि आत्मा कभी मरता नहीं, तब जीवित व्यक्ति के शरीर को जला देने पर भी पाप नहीं लगना चाहिए, क्योंकि आत्मा तो मरा नहीं फिर पाप-पुण्य कैसा? [2] इस प्रश्न का जो उत्तर दर्शनकार ने दिया है वह हमारे विषय से सीधा सम्बन्ध रखता है। वह इस प्रकार है—हम नित्य आत्मा के वध को हिंसा नही कह रहे अपितु जीवित प्राणी के जलाने पर उसके शरीर और इन्द्रियों में जो उपघात

1. शरीर दाहे पातकाभावात्। न्यायदर्शन 3,1.4
2. तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात्॥ वही 3.1.5



पीड़ा-विकलता-बैचेनी तड़पन होती है वह हिंसा है। जो जीवित प्राणी को जलाने पर तो होती हैं किन्तु मृतक के जलाने पर नहीं होती। इसलिए जीवित को जलाना पाप है, मृतक को नहीं। [1]

इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियों तथा शरीर को दी जाने वाली पीड़ा ही पाप का कारण है। चाहे वह अज्ञानवश हो या स्वार्थ-वश। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किसी रोग-निवारण के प्रयत्न में रोगी के मर जाने पर अथवा अपराधी को यथापराध दण्ड देने में की जाने वाली हिंसा, हिंसा नहीं मानी जाती। क्योंकि समाजतन्त्र को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए तथा अपराध की प्रवृत्ति को रोकने के लिए की गई दण्ड-व्यवस्था न्यायाधीश को दोषी नहीं बनाती। यही व्यवस्था युद्ध में शत्रु को मारने पर भी लागू होती है। अतः पाप का कारण अज्ञान या स्वार्थवश किसी को पीड़ा पहुंचाना है।

# वृक्षादि तथा पशु आदि में रचनाभेद

अब विवेचनीय प्रश्न यह है कि वृक्षादि में स्थित अभिमानी जीवों को पीड़ा का अनुभव होता है या नहीं? यदि उन्हें पीड़ा होती है तो हम पाप से न बच सकेंगे और यदि उन्हें पीड़ा न पहुंचती हो तो फिर पाप लगने का प्रश्न ही नहीं उठता।

वस्तुतः पशु आदि तथा वृक्षादि की रचना में भेद है। गाय आदि को मारने पर पीड़ा होना तो प्रत्यक्ष है, उसमें तो किसी को संशय नहीं होना चाहिए। उन्हें तो हमारी ही भांति सुख-दुःख की

1. न, कार्याश्रयकर्तृवधात॥ वही 3. 1. 6

अनुभूति होती है किन्तु वृक्षादि रचना उससे भिन्न प्रकार की है कि उन्हें सुख-दु:ख का अनुभव नहीं होता।

## वृक्षादि को सुख-दु:ख न होने का कारण

इस विषय में महर्षि दयानन्द के विचार बहुत स्पष्ट तथा मार्ग दर्शक हैं। सत्यार्थ प्रकाश के द्वादश (12वें) समुल्लास में जैनियों द्वारा वायुकाश जीवों की रक्षार्थ मुख पर पट्टी बाँधने की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं–देखो, पीड़ा उसी जीव को पहुंचती है जिसकी वृत्ति सब अवयवों के साथ विद्यमान हो। इसमें प्रमाण–

पञ्चावयवयोगात् सुख संवित्तिः ।।

यह सांख्यशास्त्र (5.27) का सूत्र है।

जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का पांचों विषयों के साथ सम्बन्ध होता है, तभी सुख वा दु:ख की प्राप्ति जीव को होती हैं। जैसे बधिर को गाली प्रदान, अन्धे को रूप वा आगे से सर्प, व्याघ्रादि भयद यक जीवों का चला जाना, शून्य बहरी वाले को स्पर्श, पिन्नस रोग वाले को गन्ध और शून्य जिह्वा वाले को रस प्राप्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार उन जीवों की भी व्यवस्था है।

देखो, जब मनुष्य का जीव सुषुप्ति अवस्था में रहता है तब उसको सुख वा दुःख की प्राप्ति कुछ भी नहीं होती। क्योंकि वह शरीर के भीतर तो है परन्तु उसका बाहर के अवयवों के साथ उस समय सम्बन्ध न रहने से सुख-दु:ख की प्राप्ति नहीं कर सकता।

जैसे वैद्य वा आजकल के डाक्टर लोग नशे की स्वतु खि ा



या सुंघा कर रोगी पुरुष के शरीर के अवयवों को काटते वा चीरते हैं, उनको उस समय कुछ भी दु:ख विदित नहीं होता, वैसे वायुकाय अथवा अन्य स्थावर शरीर वाले जीवों को सुख वा दु:ख प्राप्त कभी नहीं हो सकता।

जैसे मूर्छित प्राणी सुख-दु:ख को प्राप्त नहीं हो सकता, वैसे वायुकायादि के जीव भी अत्यन्त मूर्छित होने से सुख दु:ख को प्राप्त नहीं हो सकते। फिर उनको पीड़ा से बचाने की बात सिद्ध कैसे हो सकती है?

महर्षि दयानन्द का इस विषय में स्पष्ट मत है कि वायुकयादि जीव हों या वृक्षादि स्थावर के जीव, सब अत्यन्त मूर्च्छित अवस्था में हैं। इन्हें सुख-दु:ख का लेश भी नहीं होता। अत दु:ख न होने से इनके उखाड़ने काटने व खाने में दोष या पाप भी नही लगता।

## महर्षि दयानन्द का यह मत वेद सम्मत है

महर्षि दयानन्द ने जहां सांख्य दर्शन का प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि ज्ञानेन्द्रियों के अभाव में जीव उन इन्द्रियों से होने वाले सुख दु:ख की अनुभूति नही कर सकता वहाँ उन्होंने वृक्षादि में स्थित जीव को अत्यन्त मूर्च्छित अवस्था में बतलाया है।[1] यह उनकी कल्पना मात्र नहीं है अपितु वेद में वृक्षों को 'ऊर्ध्वस्वप्न' अर्थात स्वप्न से ऊपर बतलाया है स्वप्नावस्था से ऊपर सुषुप्ति ही होती है। अतः वेदानुसार भी वृक्ष सुषुप्ति अवस्था में है।[2] पशुओं का दूध तथा औषधियों के खाने का वेद का आदेश भी है इससे स्पष्ट है कि वेद में औषधि आदि खाने का आदेश होने तथा उन्हें

किसी प्रकार का कष्ट न होने से उनके काटने खाने में किसी प्रकार का पाप नहीं है । परन्तु पशु आदि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं तथा मारने काटने या घाव करने पर उन्हें दुःख की अनुभुति होती है, इसीलिए उन के मारने आदि पर पाप लगता है ।

## —: एक अन्य प्रश्न :—

कुछ लोग यह प्रश्न भी करते हैं कि यदि किसी को मूर्च्छित करके मार लिया जाए तो उसके मारने में भी पाप नहीं होना चाहिये क्योंकि उसे भी दुःख की अनुभूति नहीं होगी । किन्तु प्रश्न यह है कि क्या परमेश्वर ने किसी को स्वभाव से ही मूर्च्छितावस्था में उत्पन्न किया है अथवा उसकी वह अवस्था कृत्रिम बनाई गई है। यह तो ऐसे ही हुआ जैसे एक व्यक्ति का उसके कर्मों के कारण दरिद्र उत्पन्न किया हो तथा दूसरे से उसका सर्वस्व अपहरण करके दरिद्र बना दिया हो। तथा फिर यह तुलना की जाए कि जब एक को परमात्मा ने दरिद्र बनाया है और दूसरे को हमने बना दिया तो हमे पाप कैसा ? इसी प्रकार जिसे परमात्मा ने स्वभाव से अत्यन्त मूर्च्छित अवस्था वाला बनाया है उसी के काटने आदि में पाप न लगेगा किन्तु जिसे आपने मूर्च्छित किया है उसके मारने में दोष अवश्य लगेगा, क्योंकि आप परमेश्वर की व्यवस्था में अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए दखल दे रहे हैं। परमेश्वर की व्यवस्था का उल्लंघन पुण्य कैसे हो जाएगा ? वह

---

1. अस्थुर्वृक्षा उर्ध्वस्वप्नाः ॥ अथर्व० 6. 44. 1
2. पयः पशूनां रसमोषधीनाँ वृहस्पतिः सविता मे नियच्छतात् । अथव 19. 31. 5



तो पाप ही रहेगा। अतः उस व्यवस्था का तोड़ने वाला पापी अवश्य होगा ।

## उपर्युक्त समस्या का एक अन्य प्रकार से समाधान

इस बात को एक अन्य प्रकार से भी समझाया जा सकता है हमें जीवित रहने तथा कार्य करने के लिए पांच कोशों की अपेक्षा है। वे कोश इस प्रकार हैं—

(1) अन्नमय कोशः—यह त्वचा से लेकर अस्थि—पर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है ।

(2) प्राणमय कोशः—इसके अन्तर्गत प्राण, अपान, समान उदान तथा व्यान आदि प्राण के भेद आते है । यह कोश जीवन में सहायक हैं ।

(3) मनामय कोशः—यह मन, अहंकार तथा पंच कर्मेन्द्रय-वाणी, पैर, हाथ एवं मल-मूत्रेन्द्रिय का समुदाय है।

(4) विज्ञानमयकोशः—इसमें बुद्धि, चित्त तथा कान, त्वचा नेत्र जिह्वा और नासिका ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां आती हैं। इसी कोश से जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है ।

(5) आनन्दमय कोश—इसमें प्रीति, प्रसन्नता तथा न्यून वा अधिक आनन्द की प्रतीति होती है ।[1]

इन पांच कोशों में से ज्ञानादि का व्यवहार, चाहे वह सुखात्मक हो अथवा दुःखात्मक, जीव तब तक नहीं कर सकता जब तक उसका विज्ञानमयकोश काम न करे। महर्षिदयानन्द सत्यार्थप्रकाश के नवम् समुल्लास में विज्ञानमय कोश का स्वरूप बतलाकर लिखते हैं—इसी से जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है।[1] जिसका भाव है कि इस कोश के बिना जीव सुख दुःख का ज्ञान करने में सर्वथा असमर्थ है। यदि किसी समय सुषुप्ति अथवा मूर्च्छा के कारण जीव का यह कोश कार्य नहीं करता तो उस जीव को उस समय सुख या दुःख की अनुभुति नहीं हो सकती।

परमपिता परमेश्वर दयालु, न्यायकारी तथा सर्वज्ञ हैं। अतः जानते हैं कि वृक्षादि के बिना मनुष्यादि का जीवन भी नहीं चल सकता। इसलिए उन्होंने ऐसी व्यवस्था कर दी है कि जिससे हम कन्द मूल आदि को खाकर जीवन यापन भी कर सके तथा उन्हें किसी भी प्रकार का दुःख भी न हो, उनके उखाड़ने काटने आदि में पाप भी न लगे।

यह व्यवस्था इस प्रकार है कि इनके पाँचों कोशों में से केवल अन्नमय और प्राणमय कोशों को ही विकसित किया है। शेष कोश विकसित न होने से इन्हे सुख या दुःख की अनुभूति नहीं हो सकती। क्योंकि हम अभी बतला आए हैं कि सुख दुःख का अनुभव विज्ञानमय कोश के बिना नहीं हो सकता वैसे निष्प्रयोजन वृक्ष आदि के काटने से व्यक्ति समाज की हानि रूप पाप से युक्त होगा।

1- इसकी व्याख्या के लिए सत्यार्थ प्रकाश का नवम् समुल्लास देखें॥



वेद के एक मन्त्र में दो प्रकार के जीवों का उल्लेख है। एक वे जो प्राण लेते हैं तथा दूसरे जो प्राण लेने के साथ-साथ पलक भी झपकते हैं।[1] पहले वृक्षादि हैं जो केवल प्राण ही लेते हैं तथा दूसरे मनुष्यादि प्राणी हैं जो प्राण लेने के साथ ही पलक भी झपकते हैं इस मन्त्र का अन्य अर्थ प्राणवाले तथा अप्राणी रूप भी है।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य पशु आदि में पाँचों कोश होने से उन्हें निरपराध होने पर मारने से पाप लगता है तथा वृक्षादि में केवल अन्नमय और प्राणमय ये दो कोश ही विकसित होने से एवं अन्य कोश विकसित न होने से उन्हें सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। अतः उनके उखाड़ने काटने खाने में पाप भी नहीं लगता। अण्डा भी गर्भ होने से तथा उसका उत्पत्ति-स्थल मलिन होने से अखाद्य है उसका खाना भी गर्भ भक्षण रूपी पाप ही है।

इस समस्त विवेचन से पाठक समझ गये होंगे कि क्यों पशु आदि को मारना पाप तथा कन्द-मूल, वृक्ष, लता आदि का सप्रयोजन उखाड़ना आदि पाप नहीं है। अतः हमें पशु, पक्षी, मछली, अण्डा आदि के भक्षण रूप पाप से बच कर शाक पात कन्दमूल फलफूल आदि को ही अपने भोजन का अंग बनाना चाहिये न कि मांसादि भक्षण से स्वभाव बिगाड़कर मानव जीवन के प्रयोजन, धर्मार्थ काम मोक्ष, से वंचित होना और पाप का भागी बनना।

मा हिंसीः पुरुष जगत् ॥

1. यः प्राणतो निमिषतः ॥